॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ॥

वर्ष तीसरा
अंक बारहवां

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

चैत्र
२४७४

कल्याणमूर्ति

हे भव्य जीवों! यदि तुम आत्मकल्याण करना चाहते हो तो स्वत: शुद्ध और सर्वप्रकार परिपूर्ण आत्मस्वभाव की रुचि और विश्वास करो, तथा उसी का लक्ष और आश्रय ग्रहण करो। इसके अतिरिक्त अन्य, समस्त रुचि, लक्ष और आश्रय का त्याग करो। स्वाधीन स्वभाव में ही सुख है, परद्रव्य तुम्हें सुख या दु:ख देने के लिये समर्थ नहीं है। तुम अपने स्वाधीन स्वभाव का आश्रय छोड़कर अपने ही दोषों से पराश्रय के द्वारा अनादिकाल से अपना अपार अकल्याण कर रहे हो! इसलिये अब सर्व परद्रव्यों का लक्ष और आश्रय छोड़कर स्वद्रव्य का ज्ञान, श्रद्धान तथा स्थिरता करो। स्वद्रव्य के दो पहलू हैं–एक, त्रिकालशुद्ध स्वत: परिपूर्ण निरपेक्षस्वभाव और दूसरा क्षणिक वर्तमान में होनेवाली विकारी अवस्था। पर्याय स्वयं अस्थिर है, इसलिये उसके लक्ष से पूर्णता की प्रतीतिरूप सम्यक्दर्शन प्रगट नहीं होता, किन्तु जो त्रिकाल स्वभाव है, वह सदा शुद्ध है, परिपूर्ण है, और वर्तमान में भी वह प्रकाशमान है; इसलिये उसके आश्रय तथा लक्ष से पूर्णता की प्रतीतिरूप सम्यक्दर्शन प्रगट होगा। यह सम्यक्दर्शन स्वयं कल्याणस्वरूप है और यही सर्व कल्याण का मूल है। ज्ञानीजन सम्यक्दर्शन को 'कल्याणमूर्ति' कहते हैं। इसलिये सर्वप्रथम सम्यक्दर्शन प्रगट करने का अभ्यास करो।

आवश्यक सूचना

इस अंक के साथ आपका वार्षिक चन्द समाप्त हो जाता है। इसलिये आत्मधर्म के आगामी वर्ष का मूल्य तीन रुपया मनीआर्डर से ८ दिन के भीतर ही निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें। अन्यथा आगामी (३७ वाँ) अंक ३.५०/– की वी.पी. से भेजा जायेगा।

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

भगवान महावीर ने क्या किया और क्या कहा ?

[महावीर जयन्ती के दिन समयसार गाथा ७७ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा दिया गया व्याख्यान]

आज भगवान महावीर के जन्मकल्याणक का दिन है। हमें यह समझना चाहिये कि धर्मी जीव का जन्म किसे कहते हैं, और धर्म क्या वस्तु है। कोई भगवान अवतार धारण नहीं करते, किन्तु जगत् का जो जीव आत्मस्वरूप की प्रतीति करके साधना में आगे बढ़ते-बढ़ते पूर्णदशा प्रगट कर लेता है, वही भगवान है। प्रत्येक आत्मा आत्मस्वभाव की प्रतीति करके पूर्णदशा प्रगट कर सकता है।

आत्मा का धर्म आत्मा में होता है, पर में नहीं होता। श्री समयसारजी की ७७ वीं गाथा में कहा है कि—धर्मी जीव, परद्रव्यरूप से उत्पन्न नहीं होते। यह सिद्धान्त जन्मकल्याणक में भी लागू होता है। शरीर, मन इत्यादि जड़ हैं और पुण्य-पाप के भाव विकार हैं, वे कोई आत्मा का स्वरूप नहीं हैं, उनमें आत्मा का धर्म नहीं है। आत्मा का धर्म अपनी निर्मल पर्याय में है, आत्मा का त्रैकालिक स्वभाव सच्चिदानन्द है; उस स्वभाव का परिचय करके उसमें लीन होना ही धर्मी का धर्म है। धर्मी जीव श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल दशा को लेकर ही उत्पन्न होते हैं-निर्मल दशा को ही ग्रहण करते हैं, अर्थात् धर्मी जीव का जन्म अपनी निर्मल पर्यायरूप ही होता है, वे विकाररूप या जड़-शरीररूप से कभी उत्पन्न नहीं होते, तथा उसे अपनेरूप में ग्रहण नहीं करते।

अज्ञानीजन शरीर के जन्म को भगवान का जन्म मानते हैं। और ज्ञानीजन निर्मल पर्याय के जन्म को ही भगवान का जन्म मानते हैं। व्यवहारदृष्टि से अर्थात् जड़ के संयोग की अपेक्षा से कथन किया जाये तो यह कहा जाता है कि भगवान का जन्म हुआ है, किन्तु वास्तव में भगवान ने जन्म ग्रहण किया ही नहीं। भगवान तो धर्मात्मा थे, और वे जड़ से तथा विकार से भिन्न चैतन्यस्वभाव को पहिचाननेवाले थे।

समयसार की ७७ वीं गाथा में धर्मात्मा का लक्षण बताते हुए कहा है कि धर्मी जीव कभी परद्रव्य को ग्रहण नहीं करते, और परद्रव्यरूप से उत्पन्न नहीं होते। तब फिर भगवान महावीर का आत्मा जड़शरीर को क्यों ग्रहण करेगा ? धर्मात्मा तो अपने आत्मा में निर्मलदशा को ग्रहण करते हैं, वे जन्म को आत्मा में ग्रहण नहीं करते। जन्म को तो जड़ परमाणु ग्रहण करते हैं, जड़-शरीररूप से जड़ परमाणु ही उत्पन्न हुए हैं; भगवान उसरूप से उत्पन्न नहीं हुए हैं। वर्तमान में अल्प रागादि है, किन्तु ज्ञानी उसे ग्रहण नहीं करते, वे उससे रहित शुद्ध आत्मपर्याय को ही ग्रहण करते हैं। इस

प्रकार सच्चा भेदज्ञान करना ही सच्चा जन्मकल्याणक उत्सव है, और वही इस आत्मा के लिये कल्याण का कारण है।

आज के दिन लोग भगवान महावीर के नाम पर अनेक विपरीत प्ररूपणाऐं करते हैं। कई लोग ऐसी अनेक प्रकार की विपरीत बातें कहा करते हैं कि—भगवान ने कहा है ''जिओ और जीने दो,'' ''सक्रिय कार्य कर दिखाओ।'' किन्तु इन कथनों में आत्मा को भूलकर बात कही जाती है। भगवान महावीर ने तो यह घोषित किया है कि—जगत् के समस्त जीव और जड़पदार्थ स्वतंत्र हैं। एक पदार्थ दूसरे का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। पर जीव को जिलाना या मारना इस जीव के वश की बात नहीं है; इसलिये आत्मस्वभाव की पहिचान करनी चाहिये और परपदार्थों के कर्तृत्व का अहंकार छोड़ देना चाहिये।

आत्मा स्वतंत्र सुखस्वरूप है, राग-द्वेष उसके स्वरूप में नहीं हैं। आत्मा का आनन्द कहीं बाह्य में नहीं है। क्या शरीर, स्त्री, पुत्र, या रुपये-पैसे में सुख है ? नहीं, उनमें न तो कहीं सुख है और न कहीं देखा गया है, तथापि अज्ञानी जीव ने अपनी मिथ्या कल्पना से उनमें सुख मान रखा है। यदि वास्तव में इन वस्तुओं में सुख हो तो उनकी उपस्थित में भी जीव दुखी क्यों होता है ? स्त्री, पुत्र, रुपया-पैसा इत्यादि में सुख मान रखा है, किन्तु जब बिच्छु डंक मार देता है, तब उन सबके रहते हुए भी सुख की कल्पना दूर हो जाती है और घोर दु:ख का वेदन होता है। तात्पर्य यह है कि पर में सुख नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु पर में सुख की जो कल्पना कर रखी है, उसमें भी सुख नहीं है, इसलिये वह कल्पना तथा राग-द्वेष भी जीव का स्वरूप नहीं है। आत्मा ज्ञानस्वभाव है; वह ज्ञान स्वयं दु:खरूप नहीं हो सकता, अर्थात् ज्ञान स्वयं ही सुखरूप है। पहले ज्ञानस्वभाव को भूलकर आत्मा का लक्ष रुपये-पैसे पर था तथा उसमें सुख की कल्पना कर रखी थी, किन्तु जब बिच्छु ने काट खाया और शरीर पर लक्ष गया, तब स्वयं उसमें दु:ख की कल्पना कर ली। जैसे शरीर के लक्ष से रुपये-पैसे में सुख की कल्पना बदल दी, उसी प्रकार आत्मस्वभाव के लक्ष से उस कल्पना का नाश कर कि मेरा सुख मुझमें है, शरीर में या रुपये-पैसे में कहीं भी नहीं है। इस प्रकार स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान करना ही धर्म है, और भगवान ने वही करने को कहा है।

'मैं स्वतंत्र आत्मा हूँ। क्या मैं शरीररूप से उत्पन्न हो सकता हूँ ? क्या मैं शरीर को लेकर सुखी हूँ ? मैं तो शरीर से सर्वथा भिन्न हूँ, शरीर के लक्ष से जो पुण्य-पाप की वृत्तियाँ होती हैं, उनमें भी मेरा सुख नहीं है।—इसप्रकार जिसने प्रतीति की है, वह जीव कभी जन्म ग्रहण नहीं करता।

वास्तव में आज भगवान महावीर का जन्म नहीं हुआ। भगवान त्रिशलामाता के गर्भ में आये और सवा नौ महीने बाद जन्म लिया, यह कहना उपचारमात्र है, क्योंकि वास्तव में तो उस आत्मा ने अपनी निर्मलदशा को बदलकर दूसरी विशेष निर्मलदशा ग्रहण की है, और उस निर्मलदशारूप उत्पन्न होते हुए उसी में वे व्याप्त हुए हैं, वे जड़-शरीर में व्याप्त नहीं हुए।

भगवान का आत्मा निर्मलदशारूप में उत्पन्न हुआ, सो यही परमार्थ से जन्मकल्याण है। भगवान अपने को न तो त्रिशला रानी और सिद्धार्थ राजा का पुत्र मानते हैं, और न शरीर को ही अपना मानते हैं; वे तो अपने को आत्मा जानते हैं। क्या आत्मा या उसकी पर्याय किसी दूसरे से उत्पन्न हो सकती है ? आत्मा के माता-पिता नहीं होते, आत्मस्वभाव में से जो निर्मलदशा उत्पन्न हुई, वही आत्मा की प्रजा है। जब शरीर के द्वारा भगवान की पहचान करानी हो, तब वह यह कहा जाता है कि महावीर, त्रिशलादेवी और सिद्धार्थ राजा के पुत्र थे। किन्तु यह तो बाह्य परिचय है। धर्मात्मा अपने चैतन्यस्वभाव में रमण करते हैं, और उस स्वभाव में से आनन्द की पर्यायरूप पुत्र का जन्म होता है। धर्मात्मा अपनी निर्मलपर्याय को छोड़कर अन्यत्र कहीं उत्पन्न नहीं होते। जिन्होंने आत्मसाक्षात्कार किया है, ऐसे ज्ञानी चतुर्थगुणस्थान में हों और उनके राग हो, तथापि वे बाह्य में या राग में उत्पन्न नहीं होते, किन्तु शुद्धपर्याय में ही उत्पन्न होते हैं।

भगवान महावीर का आत्मा भी पहले संसार दशा में था। प्रत्येक आत्मा में राग-द्वेष रहित परिपूर्ण ज्ञान-स्वभाव है, उस स्वभाव की प्रतीति करके वे अपनी निर्मल अवस्थारूप में उत्पन्न हुये-यही सच्चा जन्म है। जो जीव अनादिकाल से अज्ञान के कारण विकार का कर्तृत्व मानकर विकाररूप से उत्पन्न होता था, उसके स्थान पर अब स्वभाव की प्रतीति के द्वारा विकार का कर्तृत्व छोड़कर अपनी निर्मल परिणतिरूप से ही उत्पाद हुआ, सो यही सच्चा जन्मकल्याणक है। साधक धर्मात्मा के रागादिक होते तो हैं, किन्तु वे उन्हें निजरूप मानकर उनके कर्ता नहीं होते, परन्तु आंतरिकदृष्टि के द्वारा वे अपनी विशेष निर्मलज्ञानदशा को ही करते हैं।

यह कहा जाता है कि भगवान ने पहले तीर्थंकर गोत्र का पुण्यबन्ध किया था और त्रिशलामाता के उदर से जन्म ग्रहण किया था, किन्तु वास्तव में भगवान ने पूर्व के पुण्य भी नहीं किये थे। धर्मात्मा के ऐसे कर्म नहीं होते कि जिससे अवतार ग्रहण करना पड़े। धर्मात्मा विकार में या शरीर में उत्पन्न नहीं होते। यह तो जड़ का कार्य है। अज्ञानी जीव, पुण्य से और पुण्य के फल से भगवान की महिमा मानते हैं तथा वे भगवान को भी जड़ का और पुण्यादि विकार का स्वामी सिद्ध

करते हैं। आत्मा के शुद्धस्वभाव की प्रतीति और अनुभव करने पर जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई, उस निर्मलपर्यायरूपी कार्य को ही ज्ञानी करते हैं। मेरे सुख के लिये मुझे किसी पर संग की आवश्यकता नहीं होती और विकार में भी मेरा सुख नहीं है। मेरे स्वभाव में से जो निर्मलदशा प्रगट हुई है, वह सुखरूप है, आत्मा के द्वारा जो ऐसी प्रतीति करता है, वह धर्मात्मा है। अज्ञानियों ने मूढ़ता से निर्मल चैतन्यपरिणति को भूलाकर पर में सुख की कल्पना कर रखी है, यही जन्म-मरण का कारण है।

जैसे मिट्टी घटरूप उत्पन्न होती है, कुम्हार नहीं। इसीप्रकार परमाणु जड़-शरीररूप उत्पन्न होते हैं, आत्मा नहीं। ज्ञानी अपने ज्ञानरूप से ही उत्पन्न होता है, पररूप से नहीं। सम्यक्दर्शन प्रगट हुआ कि वह निर्मलपर्याय को ही ग्रहण करता है। बाह्य से भले ही वह स्वर्ग में हो या नरक में हो अथवा माता के पेट में हो किन्तु वह किसी को ग्रहण नहीं करता। धर्मात्मा जीव अपने आत्म-स्वभाव से बाह्य स्थित किसी भी पदार्थ को अपना नहीं मानते तथा उसके कर्ता नहीं होते, किन्तु वे अपने शुद्धभाव के ही कर्ता होते हैं। जब धर्मात्मा महावीर मार्ग से चयकर त्रिशलामाता के गर्भ में आये तब-उस समय मार्ग (विग्रहगति) में भी अपनी निर्मलपर्याय को ही ग्रहण किया था, पुण्य के परमाणुओं को या विकार को नहीं।

लोग आंतरिक आत्मस्वभाव को नहीं पहिचानते और बाह्य कल्पना से धर्म मान रहे हैं, इसलिये वे भगवान महावीर की महत्ता की बाह्य चिन्हों से मानते हैं, उनके आत्मा को भूलकर जड़ के संयोग से उन्हें पहिचानते हैं। उनके शारीरिक बल और माता-पिता के पुण्य के वैभव इत्यादि के संयोग से उन्हें पहिचानना बहिर्दृष्टि है-मिथ्यात्व है और उनके आत्मा की निर्मलपर्याय से उन्हें पहिचानना यथार्थ परिचय है। भगवान महावीर आत्मप्रतीति को साथ लेकर आये थे और उसी भव से पूर्ण शुद्धता प्रगट करके जन्म का अन्त करके सिद्ध हुऐ थे, इसलिये उनकी महत्ता है। क्या पुण्य के जड़ परमाणुओं से आत्मा की महत्ता हो सकती है? बाह्य में खाने-पीने की क्रिया हो रही हो और राग भी विद्यमान हो, तथापि धर्मात्मा सम्यक्दृष्टि उस समय भी आत्मा की निर्मलता के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी ग्रहण नहीं करते।

सम्यक्दृष्टियों को सदा आत्मा की रुचि में ही लीनता होती है, उन्हें स्वप्न में भी पर की रुचि नहीं होती; इसलिये वे उसका ग्रहण नहीं करते, किन्तु प्रति समय स्वभाव की रुचि के द्वारा शुद्धता का ही ग्रहण करते हैं। साठ वर्ष की वृद्धावस्था में किसी के इकलौते पुत्र की मृत्यु हो जाये तो उस समय उसने पुत्र को ही जीवन का सर्वस्व मान रखा है, इसलिये पुत्र-प्रेम के कारण उसे जो

आंतरिक आघात् पहुँचता है। उसका किसी भी प्रकार से समाधान नहीं होता। स्त्री, रुपया, पैसा, प्रतिष्ठा और शरीर इत्यादि सब कुछ होते हुऐ भी वह 'मेरा पुत्र' ऐसी रुचि की ध्वनि में एकतान होकर उन सबको भूल जाता है। इसी प्रकार धर्मात्मा जीवों ने अपना सर्वस्व अपने स्वभाव में जाना और माना है, इसलिये विकारभाव के आने पर भी स्वभाव की रुचि की ध्वनि में वे किसी को ग्रहण नहीं करते। धर्मात्मा अपने स्वभाव के अतिरिक्त अन्य को स्वप्न में भी ग्रहण करने की भावना नहीं करते; वे अपने आत्मस्वभाव का ही स्मरण करते हैं, इसलिये लक्ष्मी, शरीर, जन्म-मरण या विकार का स्मरण नहीं करते। जैसे अज्ञानी जीव, पुत्र को अपना मानकर उसी की धुन में लक्ष्मी इत्यादि को भूल जाता है; इसी प्रकार ज्ञानीजन ऐसी प्रतीति करते हैं कि मेरे स्वभाव की दृष्टि से जो स्वभावदशा हुई है, उसमें मैं हूँ, पर में या पर के लक्ष से होनेवाले विकार में मैं नहीं हूँ। ऐसी दृष्टि के बल से प्रति समय ज्ञानियों की शुद्धता बढ़ती है, और वे कभी विकार में या पर की रुचि में नहीं फँसते।

लोगों ने विकार में और जड़ की क्रिया में धर्म मानकर धर्म के स्वरूप को कुवड़ा और विकृत कर डाला है। वास्तव में तो धर्म का स्वरूप त्रिकाल जैसा है, वैसा ही है, किन्तु लोगों ने मात्र अपने भाव बिगाड़ रखे हैं। आत्मस्वभाव की प्रतीति किये बिना अन्य किसी उपाय से जन्म-मरण का अन्त नहीं होता-रुपया पैसा देने के भाव से धर्म नहीं होता। धर्मात्मा जीव यह कभी नहीं मानते कि हमने पहले पुण्यबन्ध किया था, जिसके फलस्वरूप अच्छा अवसर मिला है, प्रत्युत वे स्वभावदृष्टि से यह मानते हैं कि पुण्य और उसके फल में हम नहीं हैं, हम तो अपने स्वभाव में हैं।

यह बात मिथ्या है कि जगत में जब पाप बढ़ जाते हैं, तब कोई ईश्वर अवतार धारण करता है। जो सिद्ध भगवान हो गये हैं, उनका अवतार नहीं हो सकता। जब महावीर का जन्म हुआ था, तब वे भगवान नहीं थे, किन्तु तब तो वे छद्मस्थ ज्ञानी थे। जब जगत में बहुत से योग्य जीव आत्म-हित करने के लिये तैयार हुए हों, तब संसार में से कोई जीव अपने उन्नतिक्रम को साधता हुआ आगे बढ़कर उनके लिये निमित्त हो जाता है, ऐसा मेल होने पर भी उपादान और निमित्त दोनों स्वतंत्र हैं।

महावीर को पहले तीर्थंकरगोत्र का बन्ध हुआ था, वे राजकुल में जन्मे थे और उनका समवशरण रचा गया था तथा इन्द्रों ने उनकी पूजा की थी-इन सब कर्मों में कहीं भी धर्मात्मा महावीर व्याप्त नहीं हुए थे। किन्तु वे तो प्रतिसमय अपनी निर्मलपर्याय में व्याप्त रहते थे।

यदि कोई यह माने कि भले ही पुण्य से धर्म न हो परन्तु यदि इस समय पुण्य करेंगे तो उसके फलस्वरूप भविष्य में भगवान की दिव्यध्वनि का योग मिलेगा और तब धर्म समझ में

आवेगा, तो ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है क्योंकि वह चैतन्यस्वरूप आत्मा को पुण्य में और जड़ में व्याप्त होनेवाला मानता है। जिसे इसी समय चैतन्यस्वभाव की रुचि नहीं हैं, किन्तु पुण्य की रुचि है, वह भगवान की वाणी सुनकर भी आत्मा की स्वतंत्रता को नहीं समझेगा। दिव्यध्वनि में से भी आत्मा का शुद्धस्वभाव समझना है या अन्य कुछ? किन्तु जिसे स्वतंत्र आत्मा की रुचि नहीं है, उसकी पुण्य की रुचि नहीं हटती। आचार्यदेव कहते हैं कि पुण्यभाव में आत्मा व्याप्त नहीं होता, किन्तु जड़ व्याप्त होता है।

प्रश्न—जो पुण्यभाव हैं, वे आत्मा की पर्याय में होते हैं, जड़ की पर्याय में नहीं; फिर भी यहाँ यह कैसे कहा है कि पुण्यभाव में जड़ व्याप्त होता है?

उत्तर—यद्यपि पुण्यभाव आत्मा की पर्याय में होता है परन्तु वह विकार है, और यहाँ विकाररहित आत्मस्वभाव दिखाने का प्रयोजन है। आत्मस्वभाव और विकारभाव के बीच भेदज्ञान कराने के लिये; जिस निमित्त के लक्ष से विकार हुआ, उस निमित्त की मुख्यता से विकार में उसी को व्यापक कह दिया है। विकारभाव, आत्मा के लक्ष से नहीं होता, किन्तु जड़ के लक्ष से होता है; इसलिये उस विकारभाव में जड़ ही व्याप्त होता है।

प्रश्न—जैसे यहाँ निमित्त की मुख्यता से जीव के विकारभाव को जड़ का माना है, उसी प्रकार निमित्त की मुख्यता से कभी एक जड़ के कार्य का दूसरे जड़ को कर्ता क्यों नहीं माना जाता? अथवा 'गुरु से ज्ञान हुआ' इसप्रकार निमित्त की मुख्यता से क्यों नहीं माना जाता?

उत्तर—जीव में विकारभाव से भेदज्ञान कराने का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये उस विकारभाव को जड़ का माना है, परन्तु पुद्गल में ऐसा करने का कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि जड़ को तो भेदज्ञान कराना नहीं है, और ज्ञान जीव का स्वभाव ही है, इसलिये उसमें भी निमित्त की मुख्यता करने का प्रयोजन नहीं है; इसलिये यह नहीं माना जा सकता कि गुरु से ज्ञान हुआ है, क्योंकि उस मान्यता में स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता, किन्तु स्व-पर की एकत्वबुद्धि होती है। मात्र विकारीभाव जीव का स्वभाव नहीं है, यह बताने के लिये उसमें निमित्त की मुख्यता करके उसे जड़ का माना गया है। और सम्यक्दर्शन इत्यादि शुद्धभाव में जड़ का लक्ष नहीं होता, इसलिये जड़ की मुख्यता में उसमें जड़ व्यापक है-ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु शुद्धस्वभाव के लक्ष से ही शुद्धभाव होता है, इसलिये शुद्धभाव में आत्मा स्वयं व्याप्त होता है। ऐसा भेदविज्ञान करना ही धर्म है।

जैसे कोई व्यक्ति किसी गाँव का चार आने का हिस्सेदार हो, और उसे पूरा राज्य मिल जाये

तो क्या फिर वह चार आने की आय की व्यवस्था करने में लगेगा? इसीप्रकार धर्मात्मा जीव, आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव की प्राप्ति होने पर कभी भी विकार के कर्ता नहीं होते। अज्ञानी जीव बाह्य में सुख मानते हैं, और वे स्वयं ही सुखस्वरूप हैं, यह भूलकर बाहर व्यर्थ की दौड़धूप करते हैं। किन्तु ज्ञानी जानता है कि मेरा सुख परपदार्थों में कहीं भी नहीं है, मैं ही स्वयं सुखरूप हूँ।

कहा जाता है कि—आज महावीर जयंती है, अर्थात् भगवान महावीर का जन्मकल्याणक है, किन्तु यहाँ तो भगवान अवतरित हुऐ ही नहीं, भगवान ने जन्म धारण ही नहीं किया; इसका मेल कैसे बैठता है? आत्मा न तो परद्रव्य का कर्ता है, और न विकार का ही, अर्थात् आत्मा, परद्रव्यरूप या विकाररूप से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु पर से और विकार से भिन्न अपने स्वभावभावरूप ही उत्पन्न होता है। ऐसी स्वभावदृष्टिपूर्वक जो निर्मलदशा का जन्म हुआ, सो वही आत्मा का कल्याण है। जो जीव आत्मप्रतीति करते हैं, वे उपकार से काल को मांगलिक कहते हैं, किन्तु वास्तव में धर्मात्मा को तो अपने में सदा मांगलिक ही है। शरीर के संयोग-वियोग से आत्मा की वास्तविक पहिचान नहीं होती।

अज्ञानीजन पुण्य में और पुण्य के फल में सुख मानते हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने मात्र सोलह वर्ष की आयु में अद्भुत रचना करते हुए कहा था कि—

बहु पुण्य केरा पुंज थी शुभ देह मानव नो मल्यो
तो ये अरे भवचक्र नो आंटो नहीं एके टल्यो॥
सुख प्राप्त करतां सुख टलै छे लेश ये लक्षे लहो।
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे का अहो राची रहो॥

अर्थात् बहुत से पुण्य के पुंज से मनुष्य का यह शुभ शरीर मिला है, तथापि भवचक्र का एक भी परिभ्रमण दूर नहीं हुआ। इस मनुष्यभव को प्राप्त करके इतना तो लक्ष में ले कि पुण्य के फल में सुख मानने से अथवा ऐसे सुख की प्राप्ति करते हुए आत्मसुख दूर हो जाता है। अरे! तू प्रतिक्षण भयंकर भावमरण करता हुआ उसमें क्यों सुख मान रहा है?

उपरोक्त कथन में अज्ञानीजन पुण्य की महिमा मान बैठते हैं, किन्तु यहाँ तो मनुष्यभव की दुर्लभता बताकर शीघ्र ही आत्मज्ञान कराने के हेतु से कथन किया गया है कि—हे भाई! तू यह मनुष्यभव प्राप्त करके इतना तो लक्ष में ले कि इस मनुष्यभव में, पुण्य के फल में मेरा सुख नहीं है, पुण्य के फल में सुख मानने से मेरा सच्चा आत्मसुख दूर हो जाता है। यदि इतना समझ ले तो तेरा

मनुष्यभव सफल हो जाये। तू स्वभाव का भरोसा छोड़कर बाह्य में सुख मान रहा है, इसलिये तेरा आंतरिक सुख दूर होता जाता है और अज्ञान के कारण प्रतिक्षण भयंकर भाव-मरण कर रहा है। इसलिये आत्मा को समझने के लिये कहा है। पुण्य के फल की या जड़-शरीर की महिमा बताकर उसमें पकड़े जाने के लिये नहीं कहा है।

बाह्य में भगवान के पंचकल्याणक का जो उत्सव मानया जाता है, वह तो पुण्य का फल है, किन्तु वास्तव में जीव की निर्मलपर्याय ही मंगल है। भगवान महावीर चौबीसवें तीर्थंकर थे, आज उनका शासन चल रहा है। किन्तु जो-जो जीव मुक्त होते हैं, वे सब तीर्थंकर नहीं होते। तीर्थंकरत्व न होने पर भी आत्मप्रतीतिपूर्वक स्वरूपस्थिरता करके प्रत्येक जीव, मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। पहले जो पुण्य-बन्ध किया था, उसके स्वामी धर्मात्मा नहीं होते, और पुण्य के फल में जो संयोग प्राप्त होता है, उसके स्वामी भी धर्मात्मा नहीं होते, तथा वर्तमान में होनेवाले पुण्य के भावों के भी धर्मात्मा स्वामी नहीं होते। मैं विकार और उसके फल के प्रारम्भ में, मध्य में, या अन्त में भी नहीं हूँ, किन्तु मैं तो अपनी निर्मलपर्याय के आदि-मध्य-अंत में हूँ। ऐसी आंतरिकदृष्टि धर्मात्मा के होती है।

निश्चय से धर्मात्मा महावीर नहीं हुये, तथापि व्यवहार से उनका जन्म माना जाता है, क्योंकि तब उनके सम्पूर्ण दशा प्रगट नहीं हुई थी और विकार तथा शरीर संयोग की योग्यता विद्यमान थी। ऐसा व्यवहार होने पर भी स्वभाव की दृष्टि से उनके उसका निषेध पाया जाता है कि मैं तो त्रिकाल चैतन्यरूप आत्मा हूँ; न तो मेरा जन्म होता है और न मरण होता है, यह दोनों जड़ के काम हैं। ज्ञानीजन संयोग का और विकार का कार्य करते हैं किन्तु वे उसके कर्ता नहीं होते, पर को जाननेवाला जो अपना ज्ञान है, उसके कर्ता होते हैं।

भगवान सम्पूर्ण ज्ञान के धारक और वीतरागी हैं। वे किसी की भक्ति से न तो प्रसन्न होते हैं और न किसी की निन्दा से उन्हें द्वेष होता है, वे तो साक्षी-ज्ञाता हैं। जो ऐसे भगवान को यथार्थतया पहिचानता है, वह आत्मस्वभाव को जानता है, और आत्मस्वभाव को जानने पर समस्त पदार्थों का साक्षी हो जाता है, तथापि वह किसी पदार्थ का कर्ता नहीं होता। ऐसे ज्ञान के माता-पिता, जन्म-मरण, पुण्य इत्यादि का सम्बन्ध परमार्थ में लागू नहीं होता। वह ज्ञानी अपने स्वभाव में कृतकृत्य होता है।

संसार में अज्ञानी, परपदार्थों का अहंकार करता है। अज्ञानी के मरने पर भी उसके कार्य पूरे

नहीं होते, वह लोलुपता से मरता है, और उसे सच्चा आत्म-जीवन जीना नहीं आया, इसलिये वह दूसरा अवतार (जन्म) लेता है। धर्मात्मा के कार्य कभी भी अपूर्ण नहीं रहते। वे जानते हैं कि मेरा स्वभाव मुझमे हैं, मैं पर के कार्यों का कर्ता नहीं हूँ। आठ वर्ष की धर्मात्मा बालिका के भी ऐसी मान्यता हो सकती है। अज्ञानी यह मानता है कि मेरी वृद्धावस्था हो गई है और ऐसा मानकर वह शारीरिक अवस्था का ग्रहण करता है, किन्तु धर्मात्मा सदा आत्मस्वभाव के भाव का ही ग्रहण करता है।

रागरहित परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव की रुचि होने पर, ज्ञानी को अन्य किसी कार्य की रुचि नहीं होती। पर से भिन्नत्व की प्रतीति हुई और पर का अकर्तृत्व मान लिया कि वह पर से अत्यन्त उदासीन होकर रहता है। जैसे किसी अर्थी को हार इत्यादि से सजाया जाये तो उससे मुर्दे को कोई हर्ष-विशाद नहीं होता; उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष संसार के कार्यों के प्रति उस मुर्दे की भाँति अत्यन्त उदासीन रहते हैं। जिसे यह प्रतीति है कि मेरी शांति, मेरी शोभा, और मेरा आनंद मेरे भीतर-आत्मा में है, पुण्य में नहीं, वह धर्मात्मा है। ऐसे धर्मात्मा कभी जन्म लेकर उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि जन्म-मरण विकार का फल है, धर्मात्मा विकार के कर्ता नहीं होते और न उसके फल के स्वामी ही होते हैं। भगवान महावीर को पहले से ही ऐसी प्रतीति थी, वे अपनी निर्मल पर्यायरूप ही परिणमित होते थे उसी को ग्रहण करते थे और उसरूप ही उत्पन्न होते थे; वे जड़-शरीर की अवस्थारूप में परिणमित नहीं होते थे, और न उसे ग्रहण करते थे, न उसरूप उत्पन्न ही होते थे। जो-जो आत्मा ऐसे स्वभाव की प्रतीति करते हैं, वे सब जहाँ हों वहाँ ऐसे ही होते हैं, वे चाहे जिस क्षेत्र में हों किन्तु अपने आत्मा की निर्मलदशारूप ही रहते हैं। यह मात्र महावीर के ही आत्मा की बात नहीं है, किन्तु सभी आत्माओं का स्वरूप ऐसा ही है। कोई भी अपने आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के द्वारा पूर्णदशा प्रगट करके भगवान हो सकता है। ●●●

एकबार तो जीवित मरण कर!

(पद्मनंदि पंचविंशतिका अनित्य अधिकार पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन)

[एक बार तो जीवित मरण कर! इसका अर्थ यह है कि—मरण समय तो इस देह से अलग होना ही है, किन्तु इस जीवन में ही देह से पृथक् स्वरूप की प्रतीति करके, एकबार देह के स्वामित्व का त्याग कर दे, अर्थात् जीते जी शरीर पर से अपना स्वामित्व उठाकर यह विचार कर कि मैं शरीर, मन, वाणी, श्वास और कर्म ही नहीं किन्तु कर्मों के निमित्त से होने वाले रागद्वेष के क्षणिक विकारी भाव भी नहीं हूँ; मैं तो शुद्ध ज्ञानघन अरूपी आत्मा हूँ। इस प्रकार एकबार समस्त पर का स्वामित्व छोड़कर स्वभाव का स्वामित्व स्वीकार कर जिससे देहादि का संयोग ही न रहे, और फिर तुझे कभी न मरना पड़े।]

यह शरीरादि अनित्य हैं, तथापि जगत के जीव उनके लिये क्या-क्या कर रहे हैं; इसी पर यहाँ विचार किया गया है।

शरीर आदि परवस्तु हैं, क्षणिक हैं, संयोगी हैं, और आत्मा स्वयं नित्य है, असंयोगी है। अपनी नित्यता को लक्ष में न लेकर शरीरादिक अनित्य वस्तु को नित्य रखना चाहता है। जन्म लेने से पूर्व ही बालक स्वयं अनित्यता की गोद में आ चुकता है, अर्थात् जन्म लेने से पूर्व ही उसका मरण निश्चित हो चुका है; क्योंकि शरीर और आत्मा का संयोग हुआ है, और जिसका संयोग होता है, उसका वियोग हुऐ बिना नहीं रहता।

मंगलाचरण करते हुऐ आचार्य पद्मनन्दि कहते हैं कि—जिनकी वाणी दयामय होने पर भी धैर्य (स्वरूप की एकाग्रता) रूपी धनुष को धारण करनेवाले योगीरूपी योद्धाओं के मोहरूपी शत्रुओं का नाश करने के लिये तीक्ष्ण बाणों के समूह समान है, ऐसे जिनेन्द्र वीतरागदेव जगत में जयवंत हों!

जो दयामय होता है, वही किसी का नाश नहीं करता; किन्तु भगवान की वाणी में ऐसी विचित्रता है कि वह दयामय होने पर भी योगियों के मोह का क्षणभर में नाश कर देती है। ऐसी आश्चर्यकारी वाणी को धारण करने वाले श्री जिनेन्द्र भगवान सदा जयवंत हों!

आचार्यदेव शरीर की अनित्यता बतलाते हुए कहते हैं कि—हे भाई! इस शरीर के स्वभाव को तो देख! तू शरीर को 'मेरा-मेरा' कर रहा है, किन्तु यह कैसा है, सो भी तो देख! यदि इसे एक दिन भी खाने-पीने को न दिया जाये तो जैसे कमलपत्र अग्नि की आँच से मुरझा जाता है, उसी प्रकार इस शरीर की भी वैसी स्थिति हो जाती है। ऐसे इस शरीर को अपना मानकर रखना चाहता

है, किन्तु भाई! यह शरीर तो परमाणुओं के संयोग से बना है, वह कहाँ तक टिका रहेगा, इसका कोई निश्चय नहीं; और तू भगवान आत्मा अनादि अनन्त है। शरीर तेरी वस्तु नहीं, किन्तु संयोग से प्राप्त वस्तु है; इसका वियोग अवश्यम्भावी है। तब फिर इसमें आश्चर्य नहीं कि वह जल्दी से जल्दी कभी भी अलग हो जाये। यह शरीर रखने से रहनेवाला नहीं है। वह तेरे हाथ की बात नहीं है। शरीर तो क्या, किन्तु जो श्वास भीतर गया है, उसे बाहर निकालना भी आत्मा के आधीन नहीं है।

लोग मरनेवाले के पीछे रोते-चिल्लाते हैं, उसके लिये किसी ने कहा है कि—''मरने वाले को क्या रोते? रोने वाले नहीं रहेंगे''।

यदि इस संयोगी शरीर का वियोग न होगा तो क्या असंयोगी तत्व का होगा? यह अनित्य शरीर रक्त, मांस, मज्जा, हड्डी और मलमूत्र से भरा है और उस पर यह चमड़ी चढ़ी हुई है, यह तो भूख-प्यासरूपी चूहों के रहने का बिल है, तथा रागादि दु:खों का भंडार है। ऐसे शरीर को नित्य और शरणरूप-सुखरूप मानकर अज्ञानी जीव, अमृतस्वरूप भगवान आत्मा की शरण चूक जाते हैं, यह बड़े खेद की बात है।

चैतन्यघन अमृत-स्वरूप आत्मा इस मृतक कलेवर में मूर्च्छित हो गया है। क्या यह शरीर अमृत-घट है कि जिसमें से अज्ञानी जीव सुख-रस का पान करना चाहता है? जिन्होंने सुखस्वरूप भगवान आत्मा को नहीं जाना, ऐसे मूढ़ प्राणी विषयादि द्वारा शरीर से सुख प्राप्त करना चाहते हैं; जब कि ज्ञानी धर्मात्मा उससे उदासीन रहकर आत्मा का कल्याण करते हैं।

इस शरीर की आयु पानी के बुलबुले के समान देखते ही देखते नष्ट हो जानेवाली है और धन, कुटुम्ब, स्त्री, पुत्रादिक उन बादलों के समान हैं, जो पवन के एक झोके से बिखर जाते हैं। जबतक पुण्य होता है, तबतक यह स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादिक एकत्रित रहते हैं, और जहाँ पाप का पवन आया कि सब इधर उधर उड़ जायेंगे, कोई कहीं और कोई कहीं चले जायेंगे। यदि अभी भी आत्म-प्रतीति नहीं की तो पुण्य-पाप की आँधी से चौरासी लाख योनियों में न जाने कहाँ उड़कर जा गिरेगा!

विषय-भोगादि का सुख आँख की पलकों की भाँति अस्थिर और चंचल है। 'विषय-भोगादि का सुख' यह भाषा भी अज्ञानी ने बना रखी है, उसी की अपेक्षा से प्रयुक्त की गई है, वास्तव में तो विषयादिक में सुख है ही नहीं। अज्ञानी ने मात्र कल्पना से विषयादि में सुख मान रखा है, वह भी क्षणिक है। इसलिये स्त्री, पुत्र, धन, धान्य और शरीर इत्यादि के मिलने से हर्ष नहीं करना

चाहिये और उसके वियोग में शोक नहीं करना चाहिये। यह बात तो जगत प्रसिद्ध है कि जो उत्पन्न होता है, उसका नाश अवश्य होता है। इसलिये संयोग-वियोग में हर्ष-शोक न मानकर जिससे आत्मा का कल्याण हो, वही करना चाहिये।

शरीर के सम्बन्ध से कहीं भी सुख नहीं है। कभी रोग तो कभी नाश-इत्यादि शरीर के सम्बन्ध से होता ही रहता है, और इस प्रकार शरीर के संयोग से दु:ख तथा शोक की ही उत्पत्ति होती है, इसलिये सयाने पुरुषों को आत्मा का ज्ञान ही करना चाहिये, जिससे दु:ख और शोक के घर-इस शरीर का पुन: संयोग न हो।

पूर्व कर्म के कारण प्राप्त हुऐ स्त्री, पुत्र, शरीरादि का वियोग होने पर पागल-प्रवृत्ति की भाँति बिना किसी प्रयोजन के व्यर्थ ही शोक करता है। यद्यपि शोक करने से मरे हुऐ स्त्री, पुत्रादि लौट नहीं आते, फिर भी मूर्ख मनुष्य शोक करते हैं और ऐसे कर्मों का उपार्जन करते हैं कि जिससे भविष्य में उनकी पुन: प्राप्ति होकर वियोग हो। चतुर पुरुषों को ऐसा शोक नहीं करना चाहिये।

चौरासी के अनित्य पदार्थों में शरीर को धारण करे, और उसे जाने न दे, यह कैसे हो सकता है ? नगर के बीचों-बीच बंगला बनवाये और उसके निकट से जो मनुष्य, घोड़ा या मोटर इत्यादि निकले, उन्हें अपना मानकर रोक लेना चाहे तो ऐसा नहीं हो सकता। बीच बाजार में बंगल बनवा ले और निकट से किसी को जाने न दे, ऐसा कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार चौरासी की चार गतियों के चौराहे में शरीर धारण करे और फिर उसके जाने पर हाय तोबा मचाये तथा शरीर को न जाने दे तो यह कैसे हो सकता है ?

जैसे सूर्य अस्त होने के लिये ही उदित होता है; उसी प्रकार शरीरादि का संयोग भी वियोग होने के लिये ही होता है। जो उत्पन्न होता है, उसका नाश भी अवश्य होता है, ऐसा नियम है। इसलिये संयोग-वियोग में हर्ष-शोक नहीं करना चाहिये।

जैसे वृक्ष में क्रमश: शाखायें, पत्ते और फूल, फल इत्यादि उत्पन्न होते हैं और फिर वह समय आने पर सूख जाते हैं, इसी प्रकार मनुष्य अपने कर्मानुसार उच्च-नीच कुल में जन्म लेते हैं और वहाँ कर्मानुसार स्त्री, पुत्रादि का संयोग मिलता है, किन्तु समय आने पर वे सब चले जाते हैं, उनके संयोग-वियोग में हर्ष-शोक नहीं करना चाहिये।

अरे! शरीर कितना अनित्य है! वैद्य नाड़ी देख रहा हो कि इतने में ही जीव देह छोड़कर दूसरा भव धारण कर लेता है; क्योंकि वह शरीर त्याग करते ही दूसरे भव की आयु साथ ही लेकर जाता है।

शास्त्रों में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की कथा आती है कि उसके पूर्व पुण्योदय से ९६ हजार स्त्रियाँ थी, १६ हजार देव उसकी सेवा करते और ३२ हजार मांडलिक राजा उसकी सेवा में खड़े रहकर अन्नदाता-अन्नदाता पुकारा करते थे। किन्तु जहाँ उसका जीवन समाप्त हुआ कि वह पहले क्षण का अन्नदाता दूसरे क्षण स्वयं अन्नहीन हो गया, और सातवें नरक में गया! वहाँ उसे अरबों वर्ष तक अन्न का एक दाना भी नहीं मिलेगा। कहाँ तो चक्रवर्ती का वैभव और कहाँ सातवाँ नरक!

भगवान ऋषभेदव जब राज्य संचालन कर रहे थे, तब एक बार उनकी राजसभा में जब देवियों का नृत्य हो रहा था, तब उनमें से नीलांजना नामक नर्तकी देवी की आयु पूर्ण हो गई और वह नृत्य करते-करते वहीं पर लोप हो गई (अर्थात् उसकी मृत्य हो गई और उसके वैक्रियक शरीर के परमाणु बिखर कर लुप्त हो गये)। भगवान ऋषभदेव को इस घटना से तत्काल वैराग्य हो गया, और वे सोचने लगे कि यह शरीर कितना क्षणभंगुर है! इस देह का न जाने कब वियोग हो जायेगा- इसका कोई भरोसा नहीं है! इसलिये शीघ्र ही आत्मकार्य करना श्रेष्ठ है। इस प्रकार भगवान ऋषभदेव ने विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण कर ली। इस प्रकार उन्हें उस नाच में से अनित्यता के कारण वैराग्य का निमित्त मिल गया।

श्रीमद् राजचन्द्र जी ने कहा है कि 'चाहे जैसे तुच्छ विषय में प्रवेश होने पर भी उज्ज्वल आत्मा का स्वतः वेग वैराग्य की ओर झुकता है।' ज्ञानीजन तो प्रत्येक प्रसंग में वैराग्य को ही प्राप्त होते हैं।

अभी तक का समय अन्धकार में ही व्यतीत कर दिया। इस अमृतकुम्भ आत्मा को भूलकर चैतन्य भगवान आत्मा मृतक कलेवर में मूर्च्छित हो रहा है। जैसे कोई अन्धकार में नाच कर रहा हो तो उसे देखा नहीं जा सकता और नाचने वाले का परिश्रम व्यर्थ जाता है, उसी प्रकार अज्ञानरूपी अन्धकार से घिरा हुआ अज्ञानी जीव, (यद्यपि पूर्वकर्म में कोई भी परिवर्तन होने वाला नहीं है, तथापि) परद्रव्य में अहंभाव और कर्तृत्वभाव करके नाचता रहता है और पुनः अशुभकर्मों का बंध करता है।

जैसे सांप के निकल जाने पर उसकी लकीर को पीटना व्यर्थ है, इसी प्रकार स्त्री, पुत्रादि के मर जाने पर उनका शोक करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसलिये यह श्रद्धा करके कि पूर्व कर्मानुसार जिस प्राणी का जिस समय अन्त होना था, सो वही हुआ है; संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद छोड़कर धर्माराधन करो। जिसके सम्बन्ध में ऐसा मान रहा था कि इसके बिना मेरा एक क्षण

भी नहीं चल सकता, उसके बिना अनन्त काल चला गया, तथापि तू तो वही का वही बना हुआ है। और जिसे शत्रु मानकर उसका मुँह तक नहीं देखना चहाता था, वही जीव तेरे ही घर में स्त्री-पुत्रादि के रूप में अनन्त बार आ चुका है, तथापि तुझमें कोई अन्तर नहीं हुआ। तात्पर्य यह है कि पर के प्रति राग-द्वेष करना व्यर्थ है।

आगे चलकर आचार्य कहते हैं कि—पूर्व कर्म के कारण प्राप्त हुऐ संयोगों से मुक्त होने के लिये जो परिश्रम करता है, वह तो मूर्ख है ही परन्तु जो स्त्री-पुत्रादि के वियोग में शोक करता है, वह तो मूर्ख शिरोमणि है, क्योंकि उसमें उल्टा दु:ख ही बढ़ता है, नवीन अशुभ कर्म बँधते हैं; इसलिये स्त्री-पुत्रादि के वियोग में शोक नहीं करना चाहिये।

हे भाई, यह समस्त संसार इन्द्रजाल और कदली-स्तम्भ की भाँति अनित्य है। अज्ञानी को ऐसा विश्वास होता है कि यह स्त्री, पुत्र, शरीरादि का संयोग सदा ऐसा का ऐसा बना रहेगा, किन्तु उसे यह खबर नहीं है कि यह सब क्षणिक हैं, जो पलभर में बदल जायेंगे। हे मूढ़ मानव! तू यह तो विचार कर कि इन स्त्री, पुत्रादि में से कौन मरता है? क्या आत्मा मर जाता है? नहीं, क्योंकि आत्मा तो त्रिकाल स्थायी पदार्थ है, वह इस शरीर को छोड़कर अन्यत्र शरीर धारण कर लेता है; तथापि जो उस आत्मा को मरा हुआ मानकर मरनेवाले के पीछे शोक करते हैं, वे आत्मा को क्षणिक मानने वाले बौद्धों के समान हैं। हे भाई! तू जिनके लिये शोक करता है, वे तो परलोक में रह रहे हैं, इसलिये उनके होते हुऐ भी उनके लिये शोक करना व्यर्थ है। इसलिये स्त्री-पुत्रादि का शोक छोड़कर आत्मस्वरूप की ऐसी पहिचान कर कि जिससे तुझे अविनाशी उत्तम सुख की प्राप्ति हो।

यदि संसार सम्बन्धी एक भी वस्तु का संयोग सारभूत या नित्य होता तो जो शोक करता है, वह व्यर्थ न जाता, किन्तु संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जिसका संयोग सदा बना रहे संसार में प्रत्येक वस्तु का संयोग-वियोग होता ही रहता है। इसलिये आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरतारूप रत्नत्रय का आराधन करो, यही शाश्वत् सुख देनेवाला है। परवस्तु में अपनापन मानकर उसके वियोग में अज्ञानी जीव व्यर्थ ही दु:खी होता है। नदी के निकट ठहरे हुऐ राजा के लश्कर को देखकर एक पागल पुरुष ने यह मान लिया कि यह तो मेरा ही लश्कर है, और जब वह लश्कर वहाँ से चलने लगा तो वह पागल पुरुष रोने-चिल्लाने लगा कि यह मेरा लश्कर कहाँ जा रहा है? वह लश्कर अपने ही कारण से आया था किन्तु पागल उसे अपना मानकर व्यर्थ ही दु:खी होता है। इसी प्रकार जहाँ यह जीव जन्म लेता है, वहाँ अन्य संयोग अपने ही कारण से आ मिलते हैं और वे

अपना समय पूरा होने पर चले जाते हैं; किन्तु अज्ञानी जीव पागल की भाँति 'मेरा-मेरा' करके व्यर्थ ही दु:खी हो रहा है। जो शरीर आता है, वह छूट जाता है। यदि शरीर नहीं छूटे तो क्या ज्ञान छूटेगा? जिसका संयोग हुआ था, उसी का वियोग होता है। संयोग के समय जिसमें सुख माना होगा, उसके वियोग के समय दु:ख हुऐ बिना नहीं रहेगा। किन्तु यदि संयोग के समय ही वियोग की खबर होगी तो वियोग के समय आकुलता नहीं होगी। संयोग-वियोग सुख-दु:ख का कारण नहीं हैं किन्तु अज्ञानी जीव कल्पना से ही सुख-दु:ख मान रहा है।

अनन्तानन्त काल में भी मनुष्यभव मिलना दुर्लभ है; ऐसे दुर्लभ मनुष्यभव को प्राप्त करके भी क्या होने जाने वाला है? इसलिये यदि जन्म-मरण के नाशक सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर ले तो मनुष्यभव प्राप्त करना सार्थक हो जाये। मनुष्यभव अनन्त काल में भी दुर्लभ है, उसमें से अनेक जीव तो गर्भ में ही मर जाते हैं, कितने ही जन्मते ही मर जाते हैं, कितने ही बाल्यावस्था में ही मर जाते हैं, और यदि दीर्घायु प्राप्त हुई तो उसमें अनेकों माँसाहारी कुल में और अनेकों चांडालादि के कुल में जन्म लेते हैं। उनके कभी धर्म को समझने की वृत्ति ही नहीं होती। आचार्यदेव कहते हैं कि संसार के दु:खों से मुक्त करने में आत्मप्रतीति के अतिरिक्त कोई समर्थ नहीं है। इसलिये आत्मप्रतीति ही सर्व प्रथम कर्तव्य है।

जब कोई जवान पुत्र मर जाता है तो उसके माँ-बाप ऐसे रोते हैं कि मानों स्वयं तो कभी मरनेवाले ही नहीं हैं? और वे व्यर्थ ही शोक तथा आर्तध्यान किया करते हैं। किन्तु यह तो विचार कर कि वह पुत्र तेरा था ही कब, जो वह बना रहता? क्या आत्मा के भी माता, पिता और पुत्रादि होते हैं? दूसरे का क्या होगा, यह देखने को बैठा है, किन्तु यह भी तो देख कि तेरा क्या होने वाला है? हे भाई! तू दूसरे का तो अनादि-काल से देखता आया है किन्तु तेरा क्या हो रहा है, सो अब यह भी तो देख! एकमात्र धर्म ही आत्मा को धारण करके रख सकता है। धर्म (स्वभाव) ही आत्मा के लिये शरणभूत है। अपने शरणभूत आत्मस्वरूप की प्रतीति न करके, अज्ञानीजन बाह्य पदार्थों में शरण मान रहे हैं, किन्तु बाह्य में कहीं भी शरण प्राप्त नहीं हो सकती।

हे बुद्धिमान पुरुषों! परवस्तु के संयोग में हर्ष और वियोग में शोक करने से क्या लाभ है?—कुछ भी नहीं।

मनुष्य बड़े-बड़े पर्वत और नदियों को पार कर जाते हैं; किन्तु मरण के समय एक क्षणभर का परिवर्तन करने के लिये मनुष्य तो क्या, परन्तु देव भी समर्थ नहीं हैं। मरण समय निकट आने पर

मिथ्यादृष्टि देव पहले से झूरने लगते हैं, क्योंकि वे देवगति में प्राप्त सामग्री के उपभोग में ही अपने जीवन को पूरा करते हैं, इसलिये वियोग के समय वे दु:खी होते हैं और ज्ञानी सम्यग्दृष्टि देव देह त्याग के समय जिनेन्द्र भगवान की शाश्वत् प्रतिमा के निकट जाते हैं और वहाँ उनकी भक्ति करते हैं कि—हे जिनेन्द्रदेव! आप पूर्ण हो गये हैं, और हमारे स्वरूप की भावना अपूर्ण रह गई है। अब हम मनुष्य होकर अपनी आराधना को पूर्ण करेंगे। इस प्रकार भक्ति करते हुऐ जिनप्रतिमा के चरणों में अपना मस्तक नवा देते हैं और वहीं पर उनके शरीर के परमाणु विकीर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के मरण में बड़ा अन्तर है।

जन्म-मरण तो जगत का स्वरूप है, उसमें दूसरी बात कहाँ से लायेगा? यदि संसार में जन्म-मरण न हो तो क्या सिद्धों के होगा? संसार में तो जन्म-मरण होता ही रहता है; इसलिये धर्मात्मा को स्त्री, पुत्रादि के संयोग-वियोग में हर्ष-शोक न करके आत्मा का ध्यान, श्रद्धा और ज्ञान करना चाहिये। ☆

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

दु:ख का कारण और उसे दूर करने का उपाय

(मोक्ष अधिकार, गाथा २९७ के प्रवचन से)

प्रश्न—सुख आत्मा में है, रुपये-पैसे में नहीं, तब फिर उसे छोड़कर चल देना सुख का उपाय है या नहीं?

उत्तर—रुपया पैसा आदि परद्रव्य है, और आत्मा, परद्रव्य का ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता। दु:ख से मुक्त होने के लिये दु:ख के कारणों को जानकर उनका त्याग करना चाहिये। रुपया-पैसा इत्यादि परद्रव्य न तो दु:ख है, और न उसके अभाव से दु:ख का अभाव ही होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि रुपया-पैसा इत्यादि पर प्रेम रखना चाहिये, क्योंकि उसकी रुचि ही तीव्र दु:ख है। किन्तु रुपया-पैसा इत्यादि का संयोग छूट जाने मात्र से भी दु:ख नहीं छूट जाता। वास्तव में दु:ख का मूल कारण अज्ञान है; उसी का सर्व प्रथम त्याग करना चाहिये। आत्मा रुपया-पैसा इत्यादि परद्रव्य का त्याग नहीं करता, इसलिये रुपये-पैसे में सुख की मिथ्या मान्यता

और ममता भाव का त्याग कर देना चाहिये। इस प्रकार मोह का त्याग ही दु:खों को दूर करने का उपाय है।

स्मरण रहे कि जिस जीव के रुपया, पैसा, स्त्री, पुत्र और खानपान इत्यादि का राग दूर हो गया है, उसे उस प्रकार का संयोग स्वयमेव नहीं होता। यदि दु:ख और उसका कारण अपनी अवस्था में माने तो उसे अपने भीतर से अलग करने का उपाय करेगा, और यदि उन्हें अपने में न माने तो उनके दूर करने का उपाय ही क्यों करेगा ? दु:ख आत्मा की अवस्था में ही है और उसका कारण अज्ञान तथा राग-द्वेष है; उसे दूर करने का उपाय सम्यक्ज्ञान और वीतरागता ही है। ✯

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

चर्चा और व्याख्यान

[पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा श्री समयसार गाथा १३ तथा श्री पद्मनंदिपंचविंशति का ऋषभ-जिनस्तोत्र पर दिये गये व्याख्यानों और तत्सम्बन्धी चर्चा का सार यहाँ दिया जा रहा है। इससे पूर्व आत्मधर्म के अंक ३४ में ४५ बातें प्रगट की जा चुकी हैं, इससे आगे का भाग यहाँ प्रगट किया जा रहा है।]

(४६) जिनभक्ति

जिनमार्ग में सदा जिनेन्द्रदेव के दर्शन करने की सनातन रीति है। पहले देवदर्शन फिर गुरुवन्दना और फिर शास्त्र श्रवण का मार्ग है। कोई ज्ञान प्राप्त करना चाहे किन्तु देव, गुरु, शास्त्र की विनय करना न जाने तो उसे ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। प्रभु दर्शन के भाव न करे और ज्ञानी के प्रति बहुमान उत्पन्न न हो तो ज्ञान परिणमित नहीं हो सकता। सम्यक्ज्ञानधारी गुरु, और उनके गुरु आचार्यदेव तथा उनके भी परमगुरु श्री सीमंधरादिक जिनेन्द्र भगवान हैं; यदि उनके प्रति भक्तिभाव जागृत न हो तो ज्ञान कहाँ से परिणमित हो सकता है ? संसार में स्त्री, पुत्र और धन-धान्यादिक के लिये जितनी अर्पणता और उमंग होती है, तथा उनके विरह का जितना वेदन होता है, उतनी अर्पणता, उमंग और विरह का वेदन ज्ञानियों के प्रति न हो तो समझना चाहिये कि उसे ज्ञान की सच्ची चाह ही नहीं है। जिसे पूर्ण ज्ञानस्वरूप साक्षात् जिनप्रतिमा के प्रति भक्ति नहीं है, और जिसे उनके दर्शनादि का उल्लासभाव उदित नहीं होता, तथा जो मात्र ज्ञान की ही बातें किया करता है, उसे सच्चा ज्ञान प्रगट नहीं होता। जिनभक्ति के बिना ज्ञान का संग्रह कहाँ करोगे ? जिनभक्ति और

ज्ञानी की भक्ति के बिना ज्ञान टिक नहीं सकता। जहाँ पहली सीढ़ी ही नहीं है, वहाँ सम्यक्ज्ञान-मन्दिर की प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञान के लिये जो अर्पणता, भक्ति और आत्माभिलाषा चाहिये, वह नहीं है, इसीलिये ज्ञान रुका हुआ है।

(४७) स्वभाव की एकता

मैं एक शुद्ध सदा चैतन्यस्वरूप हूँ, जो राग होता है, उससे भिन्न चैतन्य ज्ञाता ही हूँ—ऐसी श्रद्धापूर्वक स्वभाव की एकता करने के लिये जिज्ञासु जीवों को प्रथम भूमिका में, स्वभाव को प्राप्त सच्चे देव, गुरु, धर्म के प्रति भक्ति उमड़े बिना नहीं रहती। तथापि जो राग है, वह मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु स्वभाव की एकता ही मोक्षमार्ग है। स्वभाव में एकता का फल, मोक्ष और विकार में एकता का फल, संसार है। अनादिकाल से जो जन्म-मरण हो रहा है, वह स्वभाव को भूलकर विकार में एकता करने का ही परिणाम है। निर्विकार सम्पूर्ण शुद्धस्वभाव की एकता ही मोक्ष है। प्रथम उसमें आंशिक एकता से सम्यक्दर्शन और फिर विशेष एकता होने से सम्यक्चारित्र प्रगट होता है, तत्पश्चात् सम्पूर्ण एकता के होने पर केवलज्ञान प्रगट होकर मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

(४८) पर्याय का परिणमन और पवित्रता।

जब स्वभाव की रुचिपूर्वक सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के प्रति प्रेम झलक उठता है, तब नवतत्त्वों की श्रद्धा होती है, और तत्पश्चात् रुचि की प्रबलता से सम्यक्दर्शन प्रगट होने पर स्वभाव की एकता होती है। सम्यक्दर्शन द्वारा स्वभाव की एकता होने पर, पर्याय का परिणमन होता है और पवित्रता प्रगट होती है।

(४९) जिनवाणी माता लोरियाँ गाती है।

जैसे बालक के पोषण के लिये माता का दूध पथ्य होता है, उसी प्रकार अनन्तकाल से जन्म-मरण में परिभ्रमण करते हुए आत्मा को सम्यक्ज्ञान के द्वारा पुष्ट करने के लिये यह स्वभाव की बात पथ्य है। जैसे माता के दूध से बालक पुष्ट होता है, उसी प्रकार स्वभाव की रुचिपूर्वक तत्वश्रवण करके आत्मा पुष्ट होता है।

जैसे माता, बालक को सुलाने के लिये लोरियां गाती है, उसी प्रकार यहाँ जिनवाणी माता आत्मस्वभाव को जागृत करने के लिये लोरियां गाती है! भगवान के दिव्य-वचनरूप जिनवाणी माता, आत्मा के सम्यक्ज्ञान को पुष्ट करके जन्म-मरण के दु:खों से बचाती है, वही आत्मा के सम्यक्ज्ञान को पुष्ट करती है। जिनवाणी माता, आत्म-स्वभाव को जागृत करने के लिये लोरियां

गाती हुई कहती है कि–हे आत्मन्! तू सिद्ध है, तू ज्ञानरूप है, तेरे चैतन्य फल के निकट तीन लोक का राज्य भी तुच्छ है। तू स्वाधीन है, परिपूर्ण है; तू अपने स्वरूप की महिमा द्वारा स्वभाव में एकता कर। राग में अटक जाने से तेरे चैतन्यस्वभाव की एकता नहीं होती। तेरा स्वभाव निरावलम्बी है, उस स्वभाव का अवलम्बन लेने में ही तेरी शोभा है। स्वभाव के अवलम्बन से सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट होकर पूर्ण आत्मदशा प्रगट होती है। तेरा स्वभाव न तो पराश्रित है और न पर से पीड़ित हो सकता है। चैतन्यतत्त्व पर की अपेक्षा नहीं रखता।

(५०)....किन्तु आत्मा को नहीं जाना।

आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से भगवान है। प्रत्येक आत्मा अपनी शक्ति को समझकर, उसका विकास करके स्वयं परमात्मा हो सकता है। ऐसी स्वतंत्रता की घोषणा जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं की गई है। यदि स्वयं अपनी शक्ति को नहीं जान पाया तो इस जीवन में क्या किया? आत्मा का ज्ञानस्वभाव परिपूर्ण जानना है, किन्तु अनादिकाल से स्वयं अपने को भूलकर ज्ञान का उपयोग पर की ओर कर रहा है, परवस्तु में ज्ञान की चतुराई बतला रहा है, किन्तु अपनी निजशक्ति की प्रतीति के बिना अनन्तकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

अनन्तकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुऐ ज्ञान के किंचित् विकास से हीरा–माणिक आदि को परखने में तो चतुराई बताता रहा, किन्तु अपने चैत्न्य हीरे को कभी नहीं जान सका और चैतन्य को जाने बिना जो कुछ जाना, सो सब धूल समान है, उससे आत्मा का कोई लाभ नहीं होता। यदि एक बार भी चैतन्य को जान ले तो संसार से पार हो जाये। जिसने आत्मा को जान लिया उसने जानने योग्य सब कुछ जान लिया जिसने एक आत्मा को प्राप्त कर लिया उसने प्राप्त करने योग्य सभी कुछ प्राप्त कर लिया है। तात्पर्य यह है कि इस जगत में जानने और प्राप्त करने योग्य एकमात्र आत्मा ही है।

(५१) बुद्धिहीन बाबा होकर...

आत्मा को जाने बिना राग को मन्द करके त्यागी हुआ तो भी उसने आत्मा के लिये कुछ नहीं किया। यह तो बुद्धिहीन बाबा होकर भव सागर में डूबने के समान है। आत्मा की प्रतीति नहीं की और जो राग कम किया, उसमें धर्म अथवा मुनिदशा मान बैठा, इस प्रकार महा–मिथ्यात्व को पुष्ट करके संसार सागर में डूब रहा है। इसलिये पहले सत्य को समझना चाहिये। सत् स्वभाव की प्रतीति किये बिना किसी भी प्रकार कल्याण नहीं हो सकता।

(५२) पहले मिथ्यात्व-नाग को बाहर निकालो

जो आत्मा के सम्यक्दर्शन के बिना राग को दूर करना चाहता है, वह यथार्थतया ऐसा नहीं कर सकता। ऊपर से ऐसा मालूम होता है कि वर्तमान में राग मन्द हो गया है, किन्तु जबतक विकार के मूलरूप मिथ्यात्व का नाश नहीं करता, तबतक विकार दूर नहीं होता। जैसे किसी के घर में बहुत बड़ा सर्प निकल आये और उसे पकड़ कर बाहर निकालने के साधन जल्दी उपलब्ध न हों तो तबतक के लिये उस पर ठंडा पानी डालकर उसे शांत कर दिया जाता है, किन्तु उससे कहीं सर्प का भय दूर नहीं हो जाता क्योंकि वह कुछ ही समय पश्चात् पानी की ठंडक से मुक्त होकर फिर फुफकार उठता है। इसलिये जबतक उस सर्प को ही पकड़ कर बाहर न निकाल दिया जाये, तबतक भय दूर नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा में मिथ्यात्वरूपी नाग घुसा हुआ है, उसे कषायों की मन्दता से शांत कर देने पर भी उसका भय दूर नहीं होता; किन्तु जबतक मिथ्यात्वरूपी नाग विद्यमान रहता है, तबतक न तो कषाय दूर होती है, और न वास्तविकरूप से वह मन्द ही होती है। मिथ्यात्व के कारण कषायभाव की रुचि दूर नहीं होती; इसलिये वर्तमान मन्दकषाय को अल्पकाल के लिये दूर करके अति तीव्रकषाय व्यक्त करेगा। अनन्त कषाय का मूल मिथ्यात्व ही है, उसे दूर किये बिना वर्तमान में कषाय की मन्दता दिखाई दे, अथवा त्यागी दिखाई दे परन्तु इससे आत्मकल्याण नहीं होता।

(५३) सर्व पापों का मूल।

जैसे वृक्ष की जड़ को काट दिया जाये तो उसकी टहनियाँ और पत्ते आदि अल्पकाल में ही नष्ट हो जाते हैं, और यदि टहनियों तथा पत्तों को काटकर भी जड़ को सुरक्षित रहने दे तो अल्पकाल में ही वृक्ष पुनः अंकुरित हो जाता है, इसी प्रकार जिसने संसार के मूलभूत मिथ्यात्व को उखाड़ फेंका है, उसकी अन्य कषायें भी अल्पकाल में नष्ट हो जायेगी, और जिसने कषाय की मन्दता की है किन्तु सम्यक्दर्शन के द्वारा मिथ्यात्वरूपी जड़ को नहीं काटा, उसके अल्पकाल में ही कषाय ज्यों की त्यों अंकुरित हो जायेगी। आज भले ही कोई जीवदया का पालन करता दिखाई दे किन्तु मित्यात्व के फलस्वरूप भविष्य में वह घोर हिंसा के कार्य करेगा। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व ही सर्व पापों का मूल है, उसे सबसे पहले दूर करना चाहिये।

(५४) जिज्ञासु का उल्लास

आत्मा त्रैकालिक तत्व है, यदि उसे पर की अपेक्षा से लक्ष में लिया जाये तो नव तत्व के

भेद होते हैं। नव तत्वों को रागमिश्रित विचारों के साथ त्रैकालिक तत्व का क्षणिक सम्बन्ध है, नित्य सम्बन्ध नहीं; और त्रैकालिक तत्व का पर के साथ कभी कोई सम्बन्ध नहीं है। पर की अपेक्षा से रहित और क्षणिक राग के सम्बन्ध से भी भिन्न त्रैकालिक तत्व को निरपेक्षतया लक्ष में लेने पर नव तत्वों के भेद नहीं होते। इस प्रकार त्रैकालिक तत्व की प्रतीति ही सम्यक्दर्शन है। सम्यक्दर्शन का उपाय सुनते ही जिज्ञासु को उल्लास होता है। जैसे किसी निर्धन मनुष्य को धन-भंडार मिलने की बात सुनाई जाये तो वह बड़े ही चाव से सुनता है, उसी प्रकार ज्ञानी जन आत्मा को अपूर्व निधि बतलाते हुऐ कहते हैं कि—हे भाई! तेरी चैतन्यनिधि तुझमें ही है, तुझे कुछ बाहर से प्राप्त नहीं करना है, तेरी परिपूर्णता में किंचित्मात्र भी कमी नहीं हुई। इस प्रकार चैतन्य-निधि और उसे प्राप्त करने का उपाय भी बतलाते हैं। उससे सच्चे जिज्ञासु को अपार आनन्द और उत्साह होता है, तथा वह उस बात को अत्यन्त रुचिपूर्वक सुनता है। अपने आत्मस्वभाव की बात सुनते हुऐ, और सम्यक्दर्शनादि प्रगट करने का उपाय जानकर, जिज्ञासु को अपने आत्मा में असंख्यात प्रदेशों में-उल्लास होता है, चैतन्यनिधि की प्राप्ति का अपार आनन्द प्रगट होता है। जिसे आत्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये ऐसा उल्लास होता है, उसे आत्मस्वभावदर्शक देव, गुरु, शास्त्र के प्रति अपार भक्ति और बहुमान हुए बिना कैसे रह सकता है ?

(५५) हे जिनेश! मैं अनन्तकाल से रोगी हूँ और आप निष्कारण वैद्य हैं। मैं अपने आत्मा को न पहिचानने से अनन्तकाल से भावमरण करके दुखी हो रहा हूँ। अनन्तकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुऐ मेरा कोई साथी नहीं हुआ। अब हे भगवन! आप ही एक साथी मिले हैं, मैंने आपको परम वैद्य के रूप में पहिचाना है; आपकी सेवा से मेरा भावरोग अवश्य दूर हो जायेगा।

(५६) हे जीव! सर्वज्ञ कथित धर्म के अतिरिक्त जगत में कोई शरणभूत नहीं है, इसलिये सर्वज्ञदेव कथित आत्मस्वभाव की आराधना कर। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि-

सर्वज्ञ का धर्म सुशर्ण जानो, आराध्य आराध्य प्रभाव आनो।
अनाथ एकान्त सनाथ होंगे, इसके बिना कोई न बांह लेंगे॥

अर्थात्-सर्वज्ञदेव कथित आत्मस्वभाव को सत्य शरणभूत जानकर, अंतरंग में उसकी महिमा लाकर उसी का आराधन करो! आराधन करो! स्वभाव की आराधना से ही अनाथता मिटकर सनाथता प्रगट होगी, उसके अतिरिक्त कोई शरणभूत नहीं होगा। सर्वज्ञदेव और उनके द्वारा कहे गये आत्मस्वरूप को पहिचाने बिना जीव किसकी शरण में जाकर धर्म करेगा ?

(५७) अज्ञानी को वीतराग के प्रति वास्तविक बहुमान नहीं होता और वीतराग को शुभराग नहीं होता। अज्ञानी, वीतराग को यथार्थतया नहीं जानता, किन्तु साधक धर्मात्मा को वीतराग का यथार्थ परिचय और उनके प्रति बहुमान होता है; किन्तु जबतक सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती, तबतक उन्हें वीतराग के प्रति भक्ति का शुभराग होता है। जैसे योगियों को लक्ष्मी के भोगने का भाव ही नहीं होता, और जो मरने की तैयारी में हैं, उनमें लक्ष्मी को भोगने की शक्ति नहीं होती; इसी प्रकार जो वीतराग हो गये हैं, उन्हें भक्ति का राग नहीं होता और जो कुदेवादि को मानता है, तथा जो सच्चे देव, गुरु, धर्म को नहीं पहिचानता, वह असाध्य दुर्गति में जाने की तैयारी कर चुका है, उसे भी वीतरागी देव, गुरु, धर्म के प्रति भक्ति नहीं होती। साधक धर्मात्मा को वीतराग का परिचय और अपने वीतराग स्वभाव की प्रतीति होती है। उसके जब तक राग होता है, तबतक उसे वीतराग के प्रति भक्ति-बहुमान हुऐ बिना नहीं रहता। वीतरागदेव के राग का सम्पूर्ण त्याग है और अज्ञानी को राग का त्याग करने का ही भान नहीं है। ज्ञानी को सम्पूर्ण राग से रहित आत्मा की प्रतीति होती है, और राग का त्याग करने पर भी शुभराग रह जाता है, इसलिये वह वीतराग की भक्ति करता है। परन्तु वह भक्ति के शुभराग को भी नहीं चाहता। शुभराग के द्वारा वीतराग की भक्ति करना भेदभक्ति है, वह मोक्ष का साधन नहीं है, किन्तु राग टूटकर स्वरूप में जितनी एकाग्रता होती है, उतनी अभेदभक्ति है, और अभेदभक्ति ही मोक्ष का साधन है।

(५८) हे नाथ! जन्म-मरणरूपी रोग का नाश करने के लिये आप ही कुशल वैद्य हैं, क्योंकि हमारे रोग और निरोगस्वरूप को बतानेवाले आप ही हैं। 'पर्याय में राग-द्वेष-मोहरूपी रोग के होने पर भी, तू वस्तुस्वभाव से परिपूर्ण और राग-द्वेष-मोह से रहित है, इसलिये निर्दोष वस्तुस्वरूप को जानकर उसके अवलम्बन से भावरोग को दूर करके पूर्ण हो जा!'—इस प्रकार मार्गदर्शन करानेवाले वीतराग सर्वज्ञदेव और ज्ञानीगुरु ही हैं।

(५९) श्रीमद् राजचन्द्रजी ने अपनी आत्मसिद्धि में कहा है कि:—

आत्मभ्रान्ति सम रोग नहिं, सद्गुरु वैद्य सुजान।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषधि सच्चा ध्यान॥

अपने स्वरूप की भ्रान्ति के समान दूसरा कोई रोग नहीं है। शरीर में रोग आने से जीव को दु:ख नहीं होता और राग-द्वेष भी अनन्त जन्म-मरण का कारण नहीं हैं, परन्तु अपने स्वरूप का अज्ञान ही सबसे बड़ा रोग है, वही अनन्त जन्म-मरण का कारण है। मूल रोग को जाने बिना अन्य

सैंकड़ों उपाय करने से रोग नहीं मिटता। आत्मस्वरूप को न समझे और शुभपरिणामों की क्रिया करे, तथा कायक्लेशादि करे तो उससे क्या होनेजाने वाला है? यह तो विपरीत क्रिया है। अपने आप स्वच्छन्दतापूर्वक चाहे जितने उपाय करे, तथापि आत्मभ्रान्ति का रोग दूर नहीं होता। आत्मस्वरूप को समझने के लिये सच्चे गुरु को पहिचान कर अर्पित हो जाये, और यह जान ले कि अभी तक मेरा ज्ञान और क्रियाकर्म आदि सब मिथ्या था, मैं कुछ भी नहीं समझ पाया, मैं पामर हूँ, इत्यादि। और इस प्रकार स्वच्छन्दता का त्याग करके ज्ञानी के प्रति बहुमान द्वारा सत् समागम किये बिना सत् समझ में नहीं आता, इसलिये कहा है कि 'सद्गुरु वैद्य सुजान'।

एक जगह श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि "पावे नहीं गुरुगम बिना यही अनादि स्थित" सत् समझनेवाले जीव को एक बार तो सत् का निमित्त मिलता ही है। या तो वर्तमान में ज्ञानी गुरु मिलें अथवा पहले ज्ञानी का निमित्त मिला हो, वे पूर्व के संस्कार वर्तमान में स्मरण हो आते हैं। पूर्व भव के संस्कारों के बिना अथवा वर्तमान में किसी ज्ञानी के बिना ही मैंने अपने आप ज्ञान प्राप्त कर लिया है, ऐसा कहनेवाला मनुष्य स्वच्छन्दी है। ज्ञानी के निमित्त के बिना कोई भी जीव सत् को नहीं समझ सकता। इससे पराधीनता नहीं आती, किन्तु अनादि वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि सत् में सत् निमित्त ही होता है। सत् निमित्त के बिना सत् समझ में नहीं आता। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि निमित्त का कोई असर होता है।

(६०) सात व्यसनों के सेवन से भी अधिक बड़ा मिथ्यात्व का पाप है। राग का होना चारित्र का दोष है, और राग से लाभ मानना श्रद्धा का दोष है। श्रद्धा के दोष का अर्थ है, आत्मस्वरूप की भ्रान्ति। उस आत्मस्वभाव की भ्रान्तिरूपी महारोग को दूर करने के लिये सर्व प्रथम सच्चे गुरु को पहिचानकर निश्चित करना चाहिये और वे जिस प्रकार आत्मस्वरूप बतलाते हैं, उसी प्रकार स्वयं अंतरंग में निर्णय करके समझना चाहिये। स्वयं स्वतः सत् का विचार और ध्यान करना चाहिये, यही मिथ्यात्व रोग को दूर करने की महान औषधि है।

(६१) जन्म-मरण में अज्ञानभाव से अनन्त दुःख होते हैं। जहाँ शरीर की एक उँगली टूट जाती है, वहाँ मानों मेरा ही एक अंग कट गया है, इस प्रकार तीव्र ममत्वबुद्धिपूर्वक चिल्ला उठता है, तब फिर विचार करो कि जिसे भिन्न आत्मा की प्रतीति नहीं है, और जिसे शरीर में ही एकत्वबुद्धि है, उसका जब सम्पूर्ण शरीर छूटता है, तब उसे ममत्वबुद्धि के कारण कितनी वेदना होती होगी? अनादि काल से जीव के अज्ञानभाव के कारण ऐसे मरण होते ही रहते हैं। इसमें

संयोग-वियोग का दु:ख नहीं है, किन्तु अपने परिपूर्ण स्वभाव को नहीं जाना, स्वभाव में संतोष नहीं माना और शरीरादि में ही एकत्वभाव से सुख मान रखा है; यह मान्यता ही अनन्त दु:खमय है। शरीर तो जड़ है, वह आये या जाये, उसका दु:ख नहीं है, किन्तु अज्ञानभाव से ममता का दु:ख है। जीवन में कभी चैतन्य की जाति को नहीं जाना, वीतरागी देव, गुरु, शास्त्र को नहीं पहिचाना और आत्मा की महिमा करके शरीर से उदास होकर कभी वैराग्य नहीं किया, ऐसे जीव को मरने में दु:ख होता है।

ज्ञानियों को भिन्न चैतन्य की प्रतीति होती है कि मेरा सर्वस्व मुझमें ही है। उन्होंने वीतराग देव, गुरु, शास्त्र के अतिरिक्त अन्य को जीवन में नहीं माना और कभी किसी परद्रव्य में सुखबुद्धि नहीं की, इसलिये देह त्याग के समय भी उनके स्वाभाविक शांति बनी रहती है। स्वयं असंग चैतन्य है, इसे चूककर जिसने संग में अपनापन माना है, उसे जन्म-मरण में अनन्त दु:ख होता है। अनन्त जन्म-मरण के दु:खों से भयभीत हो और जन्म-मरण से बचानेवाले (मार्गदर्शक) श्री सर्वज्ञदेव ही हैं, इस प्रकार जानकर उनके प्रति अपारभक्ति छलके, तथा भक्ति इत्यादि के राग से भी भिन्न अपने असंग स्वाधीन स्वभाव की महिमा अपने में लाकर उसका अभ्यास करे, तब अल्पकाल में ही जन्म-मरण का अन्त लाकर मुक्तिदशा को प्राप्त करने की पात्रता प्रगट होती है।

(६२) हे जिनेन्द्रदेव! जीवों को जन्म-मरण से बचानेवाले आप ही हैं। संसार में भ्रमण करते हुए जीव को कभी किसी प्रकार महा दुर्लभता से आपकी प्राप्ति होती है। अनन्तकाल से कुदेवादि को मानकर जन्म-मरण करता रहा। अब अत्यंत पुण्य के योग से सच्चे देव गुरु-धर्म की प्राप्ति हुई है।

हे वीतरागदेव! जगत में अनेक प्रकार की विपरीत मान्यताओं का जाल बिछा हुआ है, उन सबको लांघकर तुझ तक पहुँचने में जीवों को बहुत परिश्रम होता है। अनन्तकाल से माने हुऐ कुगुरु, कुदेव, कुधर्म को छोड़कर आपका परिचय पाकर आप तक आने में बहुत परिश्रम होता है। किन्तु हे नाथ! जो आपकी शरण पा लेते हैं, उनकी मुक्ति निश्चित ही है। भगवान स्वयं कहीं दूसरों को मुक्ति नहीं दिला देते, किन्तु भक्त स्वयं ही अपने आत्मा की नि:शंकता से भगवान पर आरोप करके कहते हैं कि हे नाथ! हम तो तेरी शरण में आये हैं, तू ही मुक्तिदाता है।

(६३) हे नाथ! तेरे चरणकमल को पाकर भक्तजन कृतकृत्य हो जाते हैं। तेरे निमित्त से आत्मा की प्रसन्नता होती है और चिदानन्दस्वभाव की प्रतीति तथा प्राप्ति होती है। वास्तव में उन्होंने

अपने आत्मा को ही भगवान के रूप में देखा है, इसलिये वे कृतकृत्य हो गये हैं। पर की उपेक्षा करके ज्ञानस्वभाव परिपूर्ण है, ऐसे परिचय के साथ जिसकी आपके साथ भेंट हुई है, वह कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् उसे जगत में कोई काम करना शेष नहीं रहता, क्योंकि उसे यह प्रतीति हो जाती है कि मैं पर का अकर्ता हूँ। पहले अज्ञानभाव से पर का कर्तृत्व मान रहा था, किन्तु अब साक्षीरूप ज्ञानस्वभाव को जानकर स्वभाव में समा जाता है। ज्ञानी सदा कृतकृत्य ही हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि मेरा आत्मस्वभाव स्वयं ही अचिंत्यशक्तिवाला देव है, मैं चिन्मात्र चिन्तामणि हूँ, मेरे समस्त कार्य मुझसे ही सिद्ध होते हैं, तब फिर मुझे अन्य वस्तु से क्या प्रयोजन है ? अज्ञानी को अपने आत्मा की प्रतीति नहीं है, और पर के कार्य करने की बुद्धि दूर नहीं हुई, इसलिये वह अतृप्त और दु:खी ही रहता है।

(६४) हे वीतराग देव! जिसने अपने अंतरंग में ही तेरी प्राप्ति कर ली है, अर्थात् अपने आत्मा को वीतराग स्वभाव से जान लिया है, उसने करने योग्य सब काम कर लिये हैं, और प्राप्त करने योग्य सबकुछ प्राप्त कर लिया है। वीतरागी ज्ञानस्वभाव को जानने के बाद, ज्ञातारूप से जानना ही रहा तथा ज्ञान में ही स्थिर होना रहा, क्योंकि आत्मा का स्वभाव ज्ञान ही है। उस ज्ञानस्वभाव की एकता से ज्ञान की कमी को पूर्ण करके मुक्ति प्राप्त होती है।

(६५) आचार्य पद्मनन्दिदेव केवलज्ञान की स्तुति करते हुऐ अपनी केवलज्ञान की भावना को व्यक्त करते हैं:—

हे ऋषभदेव भगवान! आप अत्यन्त सूक्ष्म केवलज्ञान के धारी हैं। परमाणु पर्यंत सूक्ष्मवस्तु को प्रत्यक्ष जाननेवाले भी आपको नहीं देख सकते। अज्ञानी को ऐसा अवधिज्ञान नहीं होता जो परमाणु को जान सके, किन्तु यदि कोई जीव आत्मज्ञान प्राप्त करके अवधिज्ञान के द्वारा परमाणु को प्रत्यक्ष जान ले, तथापि उस ज्ञान में आपका केवलज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञात नहीं होता। हम छद्मस्थ जीव चाहे जैसा सूक्ष्म ज्ञान कर लें, तथापि केवलज्ञान से तो वह कम ही है। आचार्यदेव की दृष्टि केवलज्ञान पर है। वे ज्ञानानन्दस्वरूप में लीनता करके भगवान के प्रति होनेवाले विकल्प को तोड़कर केवलज्ञान प्राप्त करने की भावना भाते हैं। यद्यपि उन्हें केवलज्ञान की प्रतीति तो है, किन्तु साक्षात् केवलज्ञान दिखाई नहीं देता। केवलज्ञान प्रगट हुऐ बिना ऐसा हो भी नहीं सकता, इसलिये वे केवलज्ञान की भावना करते हैं।

(६६) प्रभे! अवधिज्ञान से आप साक्षात् नहीं जाने जाते। अवधिज्ञान होने के बाद भी

अनन्त पुरुषार्थ करना शेष रह जाता है। आत्मप्रतीति होने पर भी केवलज्ञान को जानने के लिये रागरहित होकर केवलज्ञान ही प्रगट करना चाहिये। आपके समान परिपूर्ण स्वरूप को श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार किया है, परन्तु पुरुषार्थ की अशक्ति से आंतरिक रमणता अपूर्ण रह जाती है, इसलिये केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता। हे नाथ! यदि राग न होता तो मैं भक्ति ही क्यों करता? जब मैं सम्पूर्ण रमणतापूर्वक राग का नाश करूँगा, तब भक्ति और मेरी पर्याय पूर्ण हो जायेगी। इस प्रकार भक्ति करते-करते आचार्यदेव पूर्ण स्वभाव तक पहुँचने का उग्रपुरुषार्थ प्रारम्भ करते हैं।

(६७) आत्मज्ञान और केवलज्ञान के होने पर भी, साधक जीव पूर्णता नहीं मानते किन्तु पामरता ही मानते हैं। ऐसे साधक ज्ञानीपुरुष किस राग में अपनापन मानेंगे? किस जड़पदार्थ पर अहंकार करेंगे? राग और जड़ की बात तो दूर रही किन्तु अपने क्षयोपशम ज्ञान का अहंकार करके रुक जाना उन्हें इष्ट नहीं है, वे अपूर्णज्ञान में संतोष नहीं मानते। जड़ के संयोग, शुभराग या अपूर्णज्ञान से केवलज्ञान नहीं होता, परन्तु इन सबका लक्ष छोड़कर मात्र ज्ञानस्वरूप में स्थिरता करना ही केवलज्ञान का कारण है। हे नाथ! मैंने अपने शुद्धस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक पूर्ण पुरुषार्थ को देखा है, पूर्ण को प्रतीति में लिया है, और उस पूर्ण का अंश प्रगट किया है, किन्तु अभी बहुत सा पुरुषार्थ करना शेष है।

(६८) जगत में परमाणु सूक्ष्म कहे जाते हैं, किन्तु भगवन्! आप तो उनसे भी सूक्ष्म हैं, क्योंकि अवधिज्ञान द्वारा परमाणुओं को प्रत्यक्ष जाननेवाला भी आपको प्रत्यक्ष नहीं जान सकता।

(६९) इस प्रकार पहले छद्मस्थ के ज्ञान में प्रत्यक्ष न दिखाई देने की अपेक्षा से केवलज्ञानी परमात्मा को सूक्ष्म कहा है, और अब कहते हैं कि-केवलज्ञान इतना महान है, जिसमें लोकालोक का समावेश हो जाता है। इस प्रकार केवलज्ञान को सूक्ष्म और बड़ा दोनों विशेषणों से जानकर उसकी महिमा और स्तुति की है।

(७०) हे नाथ! आपका केवलज्ञान अत्यंत सूक्ष्म होने पर भी, इतना महान है कि उसमें समस्त लोकालोक एक ही साथ समा जाता है। इस चौदहराजु लोक से अनन्तगुना आकाश है, किन्तु आपका ज्ञान तो आकाश से भी अनन्तगुना बड़ा है। मेरे ज्ञान की पूर्ण पर्याय की शक्ति भी इतनी ही है। जो जीव ऐसे महान ज्ञानस्वभाव को अपनेरूप से स्वीकार करता है, वह रागादि को कदापि अपना नहीं मानता, अपूर्णता को अपना स्वरूप नहीं मानता, और ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी का कर्तृत्व स्वीकार नहीं करता। पूर्णस्वभाव के लक्ष से पुरुषार्थ प्रारम्भ करने से

अपूर्णता का नाश करके अल्पकाल में ही पूर्णता प्राप्त हो जाती है।

(७१) मेरा परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव है, उसमें सब एकसाथ ज्ञात होता है, तथापि विकल्प तक

●●●

सोनगढ़ में महोत्सव

श्री कुंदकुंद प्रवचनमण्डप (जिसका उद्घाटन सर सेठ हुकमचन्दजी साहब के द्वारा हुआ था) की उद्घाटन तिथि फागुन सुदी १ के द्वितीय वर्षारम्भ का तथा भगवान श्री सीमंधर प्रभु के बिम्ब प्रतिष्ठा तिथि फागुन सुदी २ के सातवें वर्षारम्भ का महोत्सव फागुन वदी १० से फागुन सुदी २ तक आठ दिवस का मनाया गया था। प्रवचनमण्डप एवं जिनमंदिर खूब सजाये गये थे। बाहर से काफी तादाद में मुमुक्षुगण लाभ लेने आये थे। नित्य बड़ी पूजा, भक्ति एवं रात्रि में भक्ति तथा प्रभावना होती थी।

एकम के दिन प्रवचनमण्डप पर गाजेबाजे से ध्वजायें चढ़ाई गईं तथा व्याख्यान के बाद

ज्ञानपूजा (सरस्वतीपूजा) भक्ति के साथ की गई और दोज के दिन सुबह जिनमंदिर पर ध्वजायें चढ़ाई गईं तथा व्याख्यान के बाद भगवान की रथयात्रा निकाली गई।

भक्ति आदि के समय साक्षात् बिम्बप्रतिष्ठा के अवसर जैसा आनन्द प्रगट होता था। दोनों बहिनों की भक्ति बहुत ही आदर्श होती है। कभी-कभी प्रश्न करने पर वे कह दिया करती हैं कि ''भाई! हमने जैसे तैसे बड़ी ही कठिनाई के बाद तो भगवान को पाया है, अर्थात् स्थानकवासी संप्रदाय में कभी भगवान के दर्शन ही नहीं मिले थे; अब उस संप्रदाय से पीछा छूटा है तो बहुत भाग्य से भगवान मिले हैं।'' नेमीचन्द पाटनी।

आत्मधर्म कार्यालय

मोटा आंकड़िया : काठियावाड़

माननीय व्यवस्थापकजी,

दिगम्बर जैन मन्दिर

आपके पास आत्मधर्म का एक अंक भेजा जा चुका है। उसे आपने पढ़ा होगा और अन्य स्वाध्यायप्रेमी भाई-बहिनों ने भी उसके आध्यात्मिक लेखों की स्वाध्याय की होगी। एक अंक और भेजा जा रहा है। क्या आप यह सूचित करने की कृपा करेंगे कि 'आत्मधर्म' किन भाई-बहिनों को रुचा है, और कौन इसके ग्राहक होना चाहते हैं?

कम से कम मंदिरजी के लिये तो यह आध्यात्मिक पत्र एक वर्ष के लिये अवश्य मंगाइये। वार्षिक मूल्य मात्र तीन रुपया है। यदि आप सूचित करें तो वी०पी० द्वारा एक वर्ष का मूल्य मंगवा लिया जाय; किन्तु इसमें आपको छह आने व्यर्थ ही अधिक लग जायेंगे। इसलिये अच्छा यही है कि आप ऊपर के पते पर ३) मनिआर्डर द्वारा भेज दें, और अपने नगर के जैनों को शुद्ध आध्यात्मिकता का लाभ लेने में सहायक हों।

जमनादास रवाणी

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.१२-०४-४८
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड